मिथक और भ्रमजाल-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय

इंग्लैंड के राजा चार्ल्स प्रथम को प्राणदण्ड दिए जाने के बीस वर्ष बाद, 1669 में उसकी विधवा, हेनरीटा-मारी, के अंतिम संस्कार के अवसर पर फ्रांसीसी बिशप बोस्सुए ने शोक-व्याख्यान दिया था। यह बिशप अपनी वाग्मिता के लिए उतने ही प्रसिद्ध थे जितने कि राजशाही के अपने समर्थन के लिए। अपने इस भाषण में निकट अतीत में जो कुछ बातें हुई थीं उनके विरुद्ध चेतावनी देते हुए उन्होंने कहा था :

"हर आदमी ने अपने आप को न्यायाधिकरण के रूप में प्रतिष्ठित कर लिया जिसमें अपने विश्वासों का निर्णायक वह स्वयं था ... ऐसे लोगों के अधार्मिक विचलन को दण्डित करने के लिए ईश्वर ने उन्हें उनकी बौरा गयी अति जिज्ञासा के हवाले कर दिया। इसमें अचरज की तनिक भी बात नहीं है कि इसके बाद उनके मन से राजा और कानून के प्रति सम्मान समाप्त हो गया, न ही इसमें कोई अचरज की बात है कि उनमें बनावटीपन आ गया, वे विद्रोही और दुराग्रही हो गये। जब आप धर्म के साथ छेड़छाड़ करते हैं तब आप उसे कमजोर करते हैं और उसे उस गुरुता से वंचित कर देते हैं जिसके बल पर वह जनता को नियंत्रण में रखता है।"

आप उक्त कथन से सहमत हों या न हों, लेकिन आप उसकी उत्कृष्ट स्पष्टता से इनकार नहीं कर सकते। इसमें धर्म को किसी परिभाषा में सीमित करके तरह-तरह के वाद-विवादों में उलझाने का कोई प्रयास नहीं है। किसी चमत्कारी क्षमता या किसी रहस्यमय ज्ञान का कोई दावा नहीं है। संक्षेप में, ऐसी किसी अलौकिकता का दावा नहीं है जो "शुद्ध" धर्म का आधार बतायी जाती है, और जिसके कारण उस पर विद्वेष और हत्या का जो आरोप लगाया जाता है, खास तौर से "इन्क्विजिशन" के दिनों में, उस आरोप से वह बरी हो जाता है। बोस्सुए द्वारा किया गया धर्म का समर्थन वस्तुतः बिल्कुल साफ शब्दों में धर्म के राजनीतिक कार्य का समर्थन था। इसे जनता को नियंत्रण में रखने का एक कारगर हथियार माना गया है, परिणामतः जब इसके साथ छेड़छाड़ की जाती है - अथवा जब इसकी गुरुता को कम किया जाता है - तब लोग बेचैन, दुराग्रही और विद्रोही हो जाते हैं।

धर्म के नाम से जाने वाले इस अत्यंत गूढ़ तत्व को व्याख्यायित करने का यद्यपि यही एक मात्र तरीका नहीं है, लेकिन उसे इस दृष्टि से देखने का यह तरीका भी एक मान्य तरीका है। अन्य लोग शायद इसे "संगठित धर्म" या शायद "अनुशासित धर्म" की व्याख्या बताना पसन्द करेंगे और कहेंगे कि यह उन निजी आध्यात्मिक विश्वासों से फर्क चीज है जिनके पीछे राजनीतिक विवशताओं की घिनौनी जरूरतों का नहीं बल्कि अन्य तत्वों का बल होता है।

इस प्रकार का विभेदीकरण वैध हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। लेकिन उससे हमें यहां गरज नहीं। हमारा मुद्दा तो बहुत सीधा-साधा है। संगठित धर्म जैसी एक चीज है, और धर्म के इसी प्रकार में समाजशास्त्रियों की रुचि हो सकती है। किसी व्यक्ति के वैयक्तिक विश्वासों में — जिस हद तक कि वे बिल्कुल निजी रहते हैं — समाजशास्त्री की कोई दिलचस्पी न है, और न हो सकती है। बेशक, मनोवैज्ञानिकों को, और कुछ अन्य लोगों को भी, इन निजी विश्वासों के बारे में शायद बहुत कुछ कहना हो।

सो इस अर्थ में जिसे हम धर्म कहते हैं — आप उसे संगठित धर्म कह लें या और कुछ—हमारा सरोकार इस चर्चा में उसी धर्म से है। हमसे पूछा गया कि मानव के विकास में धर्म सहायक है या बाधक है ?

अजीब तो लगेगा, लेकिन जिस धर्मगुरु को हमने ऊपर उद्धृत किया है उसने इस प्रश्न का उत्तर दे दिया है, हलांकि अपने तरीके से। और उत्तर है कि धर्म सहायक और बाधक, दोनों है। इसमें कोई विपर्यय नजर नहीं आयेगा। बशर्ते कि हम इसमें निहित दोनों दृष्टिकोणों को अलग-अलग करके परखने पर सहमत हों। वस्तुतः इसमें दो भिन्न दृष्टिकोण है जिनसे हम धर्म की भूमिका को परख सकते हैं। एक दृष्टिकोण के अनुसार धर्म सचमुच (मानव विकास में) बहुत सहायक है, जबकि दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार यह बहुत बड़ी बाधा है।

आइए, देखें कि ये दो दृष्टिकोण क्या हैं ?

सीधे-सादे शब्दों में, एक दृष्टिकोण है मनुष्यों पर नियंत्रण स्थापित करने का, और दूसरा है प्रकृति को नियंत्रित करने का : यानी कि जिस हद तक कि प्रकृति का हमें ज्ञान है या उसे समझा जाता है।

ऊपर जिस धर्म-गुरु की बात उद्धृत की गयी है, उसने अपनी बात बिना किसी लाग-लपेट के कहीं है। उसने बल-पूर्वक कहा कि धर्म मनुष्यों को नियंत्रण में रखने में बहुत सहायक है। लेकिन ऐसा सोचना गलत होगा कि बिशप बोस्सुए की यह बात उनकी मौलिक खोज थी। धर्म की भूमिका काफी प्राचीन काल से ही पहचानी और मानी जाती रही है। प्लेटो, आइसोक्रिटीज, पोलि-बियस और स्ट्रेबो, इन सभी ने यही बात कही है। इनमें से मैं सिर्फ एक के कथन को उद्धृत करूंगा।

आइसोक्रिटीज ईसा पूर्व चौथी शताब्दी का एक सुविज्ञ यूनानी था। उसने प्राचीन मिस्र के अश्मीकृत धर्म का अध्ययन किया और धर्म की स्पष्ट राजनीतिक भूमिका के प्रति उसके मन में सराहना पैदा हुई। उसने देखा कि मिस्र के विधिकर्ताओं को उसकी महान उपयोगिताओं का भली-भांति ज्ञान था प्रथम, "क्योंकि उसकी राय में यह उचित था कि जनता अपने से बड़ों द्वारा दिये गये प्रत्येक आदेश का पालन करने की अभ्यस्त हो जाये", और द्वितीय, "उसने देखा कि जो लोग अपनी पवित्रता का प्रदर्शन करते थे

वे अन्य सभी दृष्टियों से भी कानून का पालन करने वाले होते हैं।"

वस्तुतः संगठित धर्म जिस प्रकार की आचरण-पद्धति की अपेक्षा करता है, वह ऐसी है जो जनता को दीन अनुपालन का अभ्यस्त कर देती है। जुड़े हुए हाथ, झुका हुआ सिर, टिके हुए घुटने — दूसरे शब्दों में, सहमति और समर्पण की मुद्रा और मनः स्थिति। यह वही आचरण पद्धति है जिसकी एक स्वामी अपने क्रीत दासों से, जमींदार अपनी रियाया से, राजा अपनी प्रजा से अपेक्षा करता है।

हमने जिस धर्म-गुरु के कथन को उद्धृत किया है, वह यह देखकर उद्विग्न हो उठा था कि यूरोप में कुछ ऐसी चीजें घटित होने लगी थीं जिन्होंने धर्म को विचलित कर दिया था, और जिसके परिणामस्वरूप अन्ततः एक ऐसी घोर दुर्घटना हो गयी जो इंग्लैंड के इतिहास में अभूतपूर्व थी। इसीलिए उसने उन लोगों पर करारा प्रहार किया जो इस नयी स्थिति को लाने के लिए मूलतः जिम्मेदार थे। कौन थे ये लोग ?

दैवी इच्छा के सांसारिक व्याख्याकार की भूमिका अपनाते हुए-जैसा कि धर्म-गुरू लोग हमेशा करते हैं--बोस्सुए ने कहा कि ये वे लोग हैं जिन्हें ईश्वर ने अति जिज्ञासा के पागलपन का दण्ड प्रदान किया है। यूरोप के इतिहास पर सरसरी निगाह डालें तो हम देख सकते हैं कि वह किन लोगों का उल्लेख कर रहा था। ईश्वरीय शाप के कारण कहिए, या गहन सामाजिक रूपान्तरण का परिणाम् कहिए, लेकिन यह सच है कि यूरोप में ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए जिन्होंने अपनी जिज्ञासा को पवित्रता की, अथवा धर्म ग्रंथों में उद्घाटित सत्यों की कठोर सीमा के अन्दर ही बांधे रखने से इनकार कर दिया। बोस्सुए निस्सन्देह इन्हीं लोगों का उल्लेख कर रहा था। स्पष्टतः उसका इशारा कोपर्निकस (1473-1543) और गैलीलियो (1564-1642) की ओर था जिन्होंने नक्षत्र मण्डल के प्रति अपनी अवैध जिज्ञासा से धर्म-गुरुओं की दुनिया में हलचल पैदा कर दी थी। धर्मगुरुओं से जितनी बन पड़ी, उन्होंने उनकी भर्त्सना की। कोपर्निकस के मृत्यु के बाद उसके बारे में जो बातें कहीं गयीं उनके चन्द उदाहरण प्रस्तुत हैं। लूथर ने कहा : "यह मूर्ख खगोलशास्त्र के सम्पूर्ण विज्ञान को बदलना चाहता है, लेकिन हमारा धर्म ग्रंथ हमें बताता है कि जोशुआ ने सूरज को स्थिर खड़े रहने का आदेश दिया था, धरती को नहीं।" विकाल्विन के कहा : "कोपर्निकस के प्रमाण को दिव्यात्मा के प्रमाण से ऊपर मानने का दुस्साहस कौन करेगा ?" कार्डिनल बेलर मीन, जिसने गैलीलियो के मुकद्दमे में प्रमुख भाग लिया था, कहा कि यह "मिथ्या खोज मुक्ति की समूची क्रिश्चियन योजना को ही दूषित करती है।"

लेकिन खगोलशास्त्री ही अकेले क्यों, बोस्सुए स्पष्ट ही ब्रुनो (1548-1600) सदृश दार्शनिकों की ओर भी इशारा कर रहा था जिसकी बौद्धिक जिज्ञासा ने उसे सर्वेश्वरवादिता का समर्थक बना दिया था। सत्तारूढ़ पुरोहित वर्ग इस मदत को खतरनाक़ की हद तक भौतिकवादी दृष्टिकोण मानते थे।

"उन्होंने उसे (ब्रुनो को) फील्ड आफ फ्लावर्स में सत्रह फरवरी, 1600 में आग में जला दिया। जब धधकती लपटों के बीच में से उसकी ओर सलीब बढ़ाया गया ताकि वह उसे चूम ले, तो उसने अपना मुंह फेर लिया। विज्ञान के युग का सूत्रपात हो चुका था।" ब्रुनो के बाद बेकन (1561-1625) और देकार्त्त (1596-1650) आये जिन्हें आधुनिक विज्ञान का पैगम्बर माना जाता है। उन्होंने अपनी 'पागल-जिज्ञासा' के दायरे में प्रकृति की प्रत्येक चीज को शामिल कर लिया, और वह भी एक ऐसे उद्देश्य के लिए जो उस उद्देश्य के सर्वथा विपरीत था जिसे पुरोहित वर्ग वांछनीय मानता था। जहां पुरोहित वर्ग एक ऐसी विचारधारा की असीम सम्भावनाएं देख रहे थे, जो प्रकृति की रहस्यों को जान लेने के बाद प्रकृति पर अपना असीम नियन्त्रण स्थापित कर सकती थी। देकार्त के शब्दों में "जिसके ज़रिये हम प्रकृति के स्वामी और भोक्ता हो सकते हैं।"

इस नयी विचारधारा का आधार ज्ञान है जिसके मतलब हैं जानने की जिज्ञासा, जो पुरोहित की दृष्टि में इतनी निंदनीय है। अतः हम देख सकते हैं कि बाधा कहां है। जहां विज्ञान मानता है कि प्रकृति के ऊपर आधिपत्य का रहस्य-ज्ञान मन में छिपा है, वहां धर्म ज्ञान के प्रति विद्वेष भावना के ऊपर फूलना-फलना चाहता है। एक कोशिश चीजों को उनके सही रूप में देखने की है, तो दूसरी ओर वह दृष्टिकोण है जिसकी सहायता से पुरोहित वर्ग जनता को नियंत्रण में रखने के आशा करते हैं। एक प्रसिद्ध दार्शनिक के शब्दों में, विश्वास के लिए जगह बनाने के हेतु ज्ञान से इनकार करना धर्म को जरूरी लगता है।

इसी जरूरत पर यहां विशेष रूप से ध्यान देने की जरूरत है। ज्ञान के प्रति विद्वेष एक प्रकार की आत्मरक्षा व्यवस्था है जो संगठित धर्म के अस्तित्व को कायम रखने के लिए जरूरी है। जिस तरह समुद्रफेनी (एक समुद्री जलचर) स्याही का आवरण तान कर अपना बचाव करती है उसी तरह धर्म भी अपने चारों ओर अंधकार का पर्दा तान कर ही सुरक्षित महसूस करता है।

भारत में हमारे यहां "ब्राह्मण" ग्रंथ हैं। पुरोहित वर्ग द्वारा रचित ये अद्भुत ग्रन्थ हैं। इनमें जो एक श्लोक बार-बार आता है वह है "परोक्ष प्रियाः इव ही देवाः" अथवा "परोक्ष कामाः इव हि देवा।" आधुनिक विद्वान इसका अर्थ करते हैः 'देवताओं को दुरूहता प्रिय है' अथवा 'देवताओं को रहस्यात्मकता से प्रेम है'। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे बचकाने शब्दजाल के जरिये विकृत रूप में पेश किया गया है, अथवा सुविदित शब्दों के जानबूझ कर मनमाने अर्थ दिये गये हैं। एक अपेक्षाकृत बाद के दार्शनिक, याज्ञवल्क्य, को शायद लगा कि पुरोहित फार्मूले को कुछ स्पष्ट करने की आवश्यकता है उसी फार्मूले को दोहराते हुए उन्होंने उस संक्षिप्त टिप्पणी जोड़ दी और कहाः 'देवताओं को गूढ़ता प्रिय है; उन्हें प्रत्यक्ष ज्ञान अप्रिय है।" उनके द्वारा जोड़ी गयी संक्षिप्त टिप्पणी, जिसका अर्थ था कि देवताओं को प्रत्यक्ष अप्रिय है, बहुत कुछ कह जाती है और फ्रांसीसी पुरोहित बोस्सुए ने इसका उत्साह पूर्वक समर्थन किया होता। विज्ञान पर अथवा उसकी निहित क्षमताओं पर प्रतिबन्ध लगाने का यह नायाब तरीका था।

लेकिन हम लौटकर देखें कि यूरोप में क्या हुआ, वह यूरोप जिसने विज्ञान का जन्म होते देखा। वहां ज्ञान और अंधकार की

शक्तियों के बीच, विज्ञान और धर्म के बीच संघर्ष जारी रहा। बोस्सुए के एक सौ साल बाद दिदरो (1713-1784) हुआ। उसने संसार में विज्ञान का सूत्रपात करने वाली विचारधारा का बचाव किया। लेकिन हम उसे अभी भी पुरोहित वर्ग की विशिष्ट आत्मरक्षा प्रणाली के विरुद्ध संघर्ष करते हुए पाते हैं। उसने कहा **"सत्य का प्रकाश उन लोगों को कष्ट पहुंचाता है जो अंधेरे के अभ्यस्त हो चुके हैं। उनको ज्ञान का प्रकाश दिखाना वैसा ही है जैसे उल्लू के घोंसले में सूरज की एक किरण डालना इससे उनकी आँखों को पीड़ा पहुंचती है और वे चीं-चीं करने लगते हैं।**

विज्ञान में कुछ ऐसी बात है जो पुरोहितों को पीड़ित और आशंकित करती है। वह चीज आखिर है क्या ? पहली चीज तो यह कि विज्ञान हमें बताता है कि संसार वास्तव में क्या है: वह हमें तारों और सूरज और चांद के बारे में, उनके इतिहास के बारे में बताता है। वह हमें मनुष्य और राष्ट्रों के बारे में उनके इतिहास के बारे में बताता है। इस सबका एक व्यावहारिक पहलू भी है। विज्ञान हमसे एक परिवर्तित आचरण-आदर्श की अपेक्षा करता है। वह चाहता है कि हम अपना चुनाव बेहतर ढंग से करें। जो कुछ करें वह बेहतर ढंग से करें। लेकिन पुरोहित वर्ग का आग्रह रूढ़िबद्धता पर है। वह कहता है कि वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम्हारे दादा-परदादा करते थे, और यह निश्चित करो कि तुम्हारे बच्चे भी लीक से न हटने पायें। और कैसा व्यवहार करते थे हमारे पूर्वज ? वास्तविक जगत का परिचालन करने वाले नियमों से पूर्णतया अनभिज्ञ, या आंशिक रूप से ही भिज्ञ ये बेचारे जानते ही नहीं थे कि संसार को कैसे बदला जाये। उनके लिए जो कुछ करना सम्भव था — और जो वस्तुतः उनसे कहने को कहा जाता था — वह यह कि वे वास्तविकता के प्रति अपनी आत्मपरक मनोवृत्ति बदल लें—न केवल पूजा-प्रार्थना और प्रायश्चित के द्वारा, बल्कि भेंट पूजा आदि के जरिए भी। यदि देवता स्वयं भेंट-पूजा का उपयोग नहीं कर सकते थे तो कम-से-कम उनके सांसारिक प्रतिनिधि तो कर ही सकते थे।

इसके साथ ही हम समसामयिक स्थिति पर आते हैं। हम देखते है कि लोगों की विज्ञान के प्रति आशावादिता में एक प्रकार का ह्रास आ रहा है। यह आशावादिता पिछली शताब्दी तक जारी रही थी जब व्यापार-वाणिज्य का विस्तार हो रहा था, उद्योगों में उत्पादन बढ़ रहा था, और नयी-नयी वैज्ञानिक खोजों से मनुष्य के प्रकृति के ऊपर नियंत्रण का असीम सम्भावनाएं नजर आ रही थीं।

लेकिन प्रथम विश्व युद्ध, और उसके बाद उत्पन्न हुए आर्थिक संकट ने पश्चिमी जगत में इस आशावादिता को जबर्दस्त धक्का पहुंचाया। अनेक मध्यवर्गीय लेखकों की रचनाओं में निराशा दोष-दर्शिता और व्यंग्य के स्वर छाने लगे जायें कभी-कभी रहस्यवाद की सीमा तक पहुंचते थे, यहां तक कि उनमें धार्मिक पुनर्जागरण का आह्वान तक होता था।

ऐसे माहौल में विज्ञान और लोकतन्त्र का प्रश्न और भी महत्वपूर्ण हो उठता है। इसमें सन्देह नहीं कि लोकतन्त्र शब्द का बहुत दुरुपयोग किया जाता रहा है। दुनिया के लोगों द्वारा अपने समान हितों के साधन के लिए किये जाने वाले कार्यों को निष्प्रभावी बनाने की इच्छा से प्रेरित साम्राज्यवादी शक्तियाँ भी लोकतन्त्रवादी होने का ढोंग चती हैं। तथापि लोकतन्त्र इस दुरुपयोग से मुक्त रह कर भी जिन्दा है-वैज्ञानिक समाजवाद के अपने नये स्वरूप में। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विज्ञान की योजनाबद्ध प्रगति ही इसकी मांग है। इसकी सिद्धि हो जाने पर मनुष्य को विनाश के ताप-न्यूक्लीय और जैविक शस्त्रास्त्रों से भयग्रस्त होकर जीवित रहने की जरूरत नहीं होगी। इसके विपरीत, **विज्ञान की सहायता से भोजन, स्वास्थ्य और ऊर्जा की बुनियादी समस्याएं हल हो जायेंगी और मनुष्य एक बेहतर जीवन जी सकेगा, यह आशा की जा सकती है। लेकिन इसके लिए मिथकों और मिथ्याचारों की धुंध साफ करना जरूरी है। यही वह धुंध है जिसकी सहायता से एक मरती हुई सभ्यता अपने को बचाने की कोशिश कर रही है,** भले ही इस धुंध का स्वरूप उस धुंध से भिन्न है जिसकी प्रशंसा फ्रांसीसी पुरोहित बोस्सुए ने राजशाही का समर्थन करते हुए अपनी ओजस्वी वक्तृता में की थी।

संगठित धर्म जिस प्रकार के अंधकार से स्वयं को अच्छादित रखना चाहता है, वह कुछ लोगों के लिए फायदेमंद भी है। जैसा कि प्राचीन भारत के चार्वाकों ने घोषित किया था : शास्त्रों में जो कुछ कहा गया है वह कुछ ऐसे लोगों के लिए जीविकोपार्जन का साधन सिद्ध हो रहा है जो न हाथ-पैर हिलाना चाहते हैं और न बुद्धि का प्रयोग करना चाहते हैं (बुद्धि पौरुष हीना)।

चार्वाकों को कुचल दिया गया। महाभारत में एक कथा है कि किस प्रकार एक चार्वाक को पवित्र ब्राह्मणों ने आग में जला दिया था। लेकिन हम जानते हैं कि धर्मशास्त्र कहलाने वाले भारतीय विधि साहित्य में अपधर्मियों के विरुद्ध कठोर दण्डों का विधान किया गया था। इन अपधर्मियों में वे आरम्भिक तर्कशास्त्री भी शामिल थे जो शास्त्रों में बतायी गयी बातों की अपेक्षा विवेक और अनुभव-जन्य ज्ञान पर अधिक भरोसा करना चाहते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक महत्वपूर्ण अर्थ में पूर्व और पश्चिम, दोनों जगह स्थिति समान थी। विज्ञान को सम्भव बनाने वाले ज्ञान का पक्ष समर्थन सुरक्षित और सुविधापूर्ण जीवन को दांव पर लगाकर ही किया जा सकता था। विचारकों के सामने दो ही विकल्प थे : मिथ्या बात कहने के लिए पुरस्कार और सत्य भाषण के लिए दण्ड। इसका एक कारण यह है कि पुरोहित वर्ग अकेला नहीं था। पुरोहितों के पीछे धर्मन्यायाधिकरणों की शक्ति थी, और धर्म न्यायाधिकरणों के पीछे उस राजनीतिक सत्ता का बल था जो विशाल मानव समूहों को कृषि दास और दास बनाकर रखना चाहती थी।

अतः यह कोई संयोग मात्र नहीं है कि ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक विज्ञान के लिए संघर्ष, और आधुनिक लोकतन्त्र के लिए संघर्ष, ये दोनों एक ही समय में आरम्भ हुए। शायद इस सन्दर्भ में "एक ही समय में" कहना यहां अनुपयुक्त होगा। विज्ञान का विकास और लोकतन्त्र का विकास, ये दोनों तर्कतः परस्पर जुड़े हुए हैं। विज्ञान जिस ज्ञान का अन्वेषण करता है वह न केवल सार्वभौम ही है, बल्कि सार्वत्रिक उपयोग के लिए भी है, अतः इसके पीछे यह पूर्वमान्यता है कि विज्ञान के बिना लोकतन्त्र नहीं हो सकता, ठीक वैसे ही जैसे बिना वास्तविक लोकतन्त्र के वास्तविक विज्ञान नहीं हो सकता है। ●